ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 430-433

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-III, Issues-18, YEAR- Dec. -2020

स्मृतियों में न्याय एवं दण्ड का स्वरूप

मनोज कुमार यादव Email : aaryvart2013@gmail.com

Received- 30.11.2020, Revised- 04.12.2020, Accepted - 10.12.2020

सारांश– ***न्याय व्यवस्था अर्वाचीन युग में शासन प्रणाली का एक महत्वपूर्ण अंग है। उचित न्याय के द्वारा अपराधियों को दण्डित होते हुए देखकर ही आम नागरिकों के मन में एक सामर्थ्य राज्य का प्रतिबिम्ब बनता है। इससे कोई संशय नहीं कि न्यायालय ही राज्य की प्रभावी शक्ति का साक्षात् स्वरूप है। भारत के वर्तमान शासन पद्धति में विद्यमान चार स्तम्भों में न्यायपालिका को एक प्रमुख स्तम्भ माना गया है।***

कुंजीभूत शब्द– न्यायव्यवस्था, दण्डव्यवस्था, न्यायपालिका, धर्मशास्त्र, विधि, सारगर्भित।

शोध अध्येता– प्राचीन इतिहास, राष्ट्रीय पी0 जी0 कालेज जमुहाई, जौनपुर (उ0प्र0) भारत

अनुरूपी लेखक

प्रचीन काल की न्याय व्यवस्था वर्तमान न्यायव्यवस्था से अलग थी। वर्तमान संविधान एवं दण्ड संहिता की भाँति उस समय के धर्मशास्त्रों, ज्ञान, नियमों एवं दण्ड विधानों का अनुपालन सुनिश्चित कराया जाता है। अलग–अलग स्मृतियों विभिन्न विधानों का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ मनुस्मृति में उल्लिखित है–

"धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पंचमेन बलेन च।।"

अर्थात् प्रभावित व्यक्ति न्यायलय में फरियाद कर सकता है, या धरना धर के बलपूर्वक अपनी क्षतिपूर्ति की प्राप्ति कर सकता है। नारदस्मृति षि तब बल प्रयोग अनुचित मानती थी जब क्षतिपूर्ति विवाद विषय हो या राजा की अनुमति बलप्रयोग के लिए नहीं मिली हो। धर्मशास्त्रों में खून के लिए भी मृत मनुष्य के वर्णन के अनुसार क्षतिपूर्ति विहिन है, कारग्रह अथवा देहात रूप में दण्ड स्वीकार्य नहीं होता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि खून ऐसी गम्भीर घटना भी समाज या राज्य के विरूद्ध अपराध नहीं समझी जाती थी, किन्तु मात्र व्यक्तिगत क्षतिपूर्ति अपरिहार्य मानी जाती थी।

प्राचीन काल में न्याय के आधारशिला के स्वरूप में 'विधि' शब्द के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता था। धर्म शब्द को कई अर्थों में देखा जाता है। जैसे– अनिवार्य स्वभाविक विशेषताएं, नैतिक गुण, धार्मिक सम्प्रदाय, कर्तव्य, पुरूषार्थ तथा विधि। प्रायः देखा जाय तो न्याय व्यवस्था को स्पष्ट करने में धर्म शब्द का आशय समाज को नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाली परम्पराओं से है। धर्म के इस सारगर्भित अर्थ को याज्ञवल्क्य स्मृति में बड़े ही अद्वितीय ढ़ग से प्रस्तुत किया गया है।

वेद, धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण अपने आत्मा के अनुकुल कार्य इसके अतिरिक्त विवेक पूर्ण संकल्प में उत्पन्न हुई इच्छा को याज्ञवल्क्य ने धर्म स्त्रोत के रूप में स्वीकार किया है।1 गौतम के मत में वेद, वेद को जानने वालों की स्मृति तथा शील–ये तीन स्त्रोत है।2 जो इस संसार को सदैव मार्गदर्शन प्रदान करते रहेंगे। वेदों की प्रत्येक ऋचाएँ एवं स्मृतियों की सभी पंक्तियाँ मानव जाति को नैतिक एवं धार्मिक भावों से पूरित करती है। वशिष्ठ के अनुसार श्रुति (वेद) और स्मृति धर्मशास्त्र के प्रमुख स्त्रोत है। जैसा कि प्रस्तुत पंक्तियाँ स्पष्ट करती है।

"वेदोधर्म मूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।"[3]

उनकी अनुपस्थिति में शिष्टाचार को प्रमाण मानना चाहिए।4 'आपस्तम्ब' केवल धर्म को जानने वालों का आचरण और वेद को ही प्रमाण मानते है।5 इन्ही पंक्तियों के सन्दर्भों को सहेजे हुए श्लोक रूप में उल्लिखित विचार इस प्रकार है–

"धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदांश्य।"

अनेक स्मृति ग्रन्थों में इसी बात पर सहमति जताई गयी है कि यद्यपि राजा ही न्यायालय का अध्यक्ष होता था, फिर भी उसको कोई भी न्याय निर्णय अपने सहयोगी सभासदों के मतानुसार ही करना चाहिए। सामान्यतः यह तत्व कार्यान्वित किया जाता था। किन्तु यदि विवाद्य विषय संदिग्ध हो या उसका निर्णय करने में सभासद असमर्थ हो तब राजा को ही अपने सद्विवेक बुद्धि के अनुसार निर्णय देना आवश्यक होता था। यथा वर्णित है।–

"निश्चेतुं ये न शक्याः स्युर्वादाः संदिग्धरूपिणः।[4]
सीमाद्यास्तल नृपतिः प्रमाणं

PIF-7.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-III, Issues-18, YEAR- Dec. -2020

स्यात्प्रभुर्थतः।।"

शूद्रक द्वारा विरचित मृच्छकटिकम् में चारूदत्त के मामले का जो वर्णन आया है उससे यह परिलक्षित होता है कि सभासद प्रायः अभियुक्त दोषी है या नहीं इतना ही बताते थे। दोषी अपराधी के दण्ड का परिणाम राजा द्वारा निश्चित किया जाता था। जिसको प्रस्तुत पंक्तियों के माध्यम से चित्रित किया गया है।

आर्य चारूदत्त निर्णये वयं प्रमाणं शेषे तु राजा।'[7]

मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राजधर्म के परिप्रेक्ष्य में चर्चा की गयी है। मनु ने आदिकाल में मानव जीवन को उन्नत प्रगतिशील और राष्ट्ररक्षा, राजधर्म और मानव धर्म के मापदण्डों के द्वारा राष्ट्र को सबल और सुव्यवस्थित बनाने का भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होने अपने ग्रन्थ में जहां उसके जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त संस्कारों का वर्णन किया है। वही मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने के लिए राजधर्म का भी वर्णन किया गया है। उन्होने इस महान ग्रन्थ के द्वारा समाज को संगठित व उन्नत बनाने के लिए अनेक माध्यमों से राजधर्म की व्याख्या कर राजा, मंत्री, सभासद, प्रजा तथा इन पर प्रयुक्त होने वाले दण्ड विधान, कर व्यवस्था तथा न्याय की व्यवस्था को बड़े ही मनमोहक ढ़ग से वर्णित किया गया है–

"पूत्र इव पितृगृहे विषये यस्य मानवाः।[8] निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तम।।"

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजधर्म एवं न्यायव्यवस्था की बड़े ही सुन्दर स्वरूप में सम्मिलित किया गया है। इसके अन्तर्गत इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि प्रजा के सुख और राजा द्वारा अपनी प्रजा के सन्दर्भ में यथोचित न्याय के प्रावधान में ही उसका हित निहित है। राजा का अपना स्वार्थ कुछ भी नही है, प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय है।–

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।[9]

नात्यप्रिय प्रिय राज्ञः प्रजानां तु प्रियं प्रियम्।।

दीक्षितार के विचारों के अनुसार गौतम ने धर्म और रिवाजों के साथ ही यथोचित न्याय को भी शामिल किया है। इसके अतिरिक्त धार्मिक नियमों पर संग्रहीत शास्त्रीय टीकाओं जैसे मिताक्षरा और याज्ञवल्क्य को भी विवादों के निर्णय में कानूनी सत्ता धारण करने वाला स्वीकार किया गया। धर्मसूत्रों तथा धर्म शास्त्र के प्रणेता ने श्रुतियों में समाहित क्लिष्ट श्लोकों को निरूपित किया है। इसके प्रतिकूल आपस्तम्ब और बौधायन ने वेद, स्मृति और शिष्टाचार को नियमों का प्रारम्भिक स्त्रोत स्वीकार किया है। मनु ने इसके अन्तर्गत आत्मसंतुष्टि को भी नियोजित किया है।

शुक्र ने न्याय कार्य के महत्व को स्वीकार करते हुए राजा के 8 प्रधान कर्तव्यों में दुष्ट–निग्रह को शामिल किया है। यह न्यायिक प्रक्रिया प्रजा को धर्म पालन में मदद करती है। राजा का कर्तव्य है कि वह मुकदमों का उचित प्रकार से निर्णय करे और इस बारे में सुचित पूर्वक प्रजाजन से अपने निर्णय का पालन करवायें। शुक्र ने न्याय के अवधारणात्मक पक्ष की उतनी विस्तृत व्याख्या नहीं की है।

जैसे कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनुस्मृति में उपलब्ध है। न्याय के संस्थागत और प्रक्रियात्मक पक्ष का शुक्र ने विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। न्यायपालिका के संगठन, न्यायिक प्रक्रिया तथा मुकदमों से सम्बन्धित पक्षों के अधिकारों एवं दायित्वों का विस्तार से विवेचन किया है।

शुक्र द्वारा न्यायिक प्रक्रिया के अन्तर्गत राजा एवं सभा का उल्लेख किया गया है शुक्रनीति के विशेष प्रसंगों में 'जूरी' का भी उल्लेख किया गया है। इसमें राजा को सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था का प्रमुख निर्णायक अथवा सर्वोच्च अधिकरी माना जाता है। किन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है। कि राजा न्यायपालिका का केवल औपचारिक अध्यक्ष है। शुक्र ने राजा से शास्त्रों के अनुरूप न्यायिक कार्यों को भलि–भाँति देखने की अपेक्षा की गयी है। शुक्र ने राज्य के केन्द्रीय न्यायालय की सभा या न्यायसभा कहा है। इनके अनुसार सभा एक ऐसा स्थान है जहाँ व्यक्ति के लौकिक आचरण एवं हितों की जाँच स्मृति के कानून के अनुसार की जाती है। शुक्र ने ऐसे दस साधनों का उल्लेख किया है जिनकी मदद से सभा न्याय कार्य को भली–भाँति करने में समर्थ है।

"राजा, सभ्य, स्मृति, लेखपाल, लेखक स्वर्ण, अग्नि, जल, अधिकारी तथा राजपुरूष।"[10]

धर्म ग्रन्थ, वेद एवं स्मृति ग्रन्थ प्राचीन काल से ही मानव जाति के पथ प्रदर्शक रहे हैं जो मनुष्य जीवन में जीवन पर्यन्त घटित होने वाली सभी घटनाओं और समस्याओं के समाधान का मूल भूत आधार माने जाते है। स्मृतियाँ सदैव से व्यवहार, कौशल, सदाचार, निति व्यवस्था आदि के ज्ञान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती रही हैं। इसके अन्तर्गत राजा, राज्य उनसे सम्बन्धित व्यवस्था संचालन, अनुशासन, न्याय एवं दण्ड को वर्णित किया गया है जो स्मृतिकाल से लेकर आज तक मानव जाति के लिए सहायक सिद्व हुआ है।

किसी अपराधी को उसके अपराध हेतु दी गयी सजा को 'दण्ड' कहा जाता है। अन्य प्रसंगो में राजनितिशास्त्र के चार उपाय जैसे– साम, दाम, दण्ड और भेद में दण्ड शब्द से आशय दण्डा या छड़ी है जिससे किसी पर प्रहार किया जाता है। दण्ड से सम्बन्धित विचारों से सम्बन्ध रखने वाला शास्त्र को दण्डशास्त्र और उसके लिए प्रयुक्त नीति को दण्डनीति कहते

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-III, Issues-18, YEAR- Dec. -2020

है। दण्ड वह प्रक्रिया है जिसके भयवश प्राणी जगत अपना–अपना भोग कर पाते हैं। यदि ऐसा विधान न होता तो दुर्बल व्यक्ति के धन, पत्नी आदि को बलशाली व्यक्ति द्वारा ग्रहण कर लिया जाता। ऐसे ही वृक्ष आदि जड़ो को काटकर भी वह दुसरो को न उपयोग करने देता। राजा के डर के कारण साधुजन नित्य नियमों का पालन करते है याज्ञवल्क्य के मतानुसार दुराचरियों अर्थात अपराधियों का दमन करना ही दण्ड है।[11]

मनुष्य को मदान्धता से परे रखने तथा उसके धन की सुरक्षा हेतु संसार में जिस मर्यादा को निर्धारित किया गया है उसी को दण्ड कहते है। साधारण अर्थ में यह कह सकते है कि दण्ड वह व्यवस्था है जो सभी सामाजिक सम्बन्धों, सम्पत्ति के अधिकारों एवं परम्पराओं का सम्यक पालन करवाती है। स्पष्टतः यह कहना उचित होगा कि भारतीय राजनीतिशास्त्र में दण्ड महत्वपूर्ण बिन्दू था। जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों के माध्यम से प्रदर्शित होता था।

मनुस्मृति के अन्तर्गत दण्ड से सन्दर्भित अनेक बातें बतायी गयी है। इसमें बताया गया है कि जो दण्ड है वही राजा और उसके न्याय का प्रचारक तथा सभी को शासित करने वाला है। उसमें भी चार वर्ण, चार आश्रमों के धर्म का प्रतिबिम्ब समाहित है। दण्ड ही राजा एवं प्रजा का शासक, प्रजाओं का रक्षक है, इसकी महत्ता को समझते हुए विद्ववतजन दण्ड को ही धर्म की संज्ञा देते हैं। यदि राजा यथोचित दण्ड निध ारण करते तो सभी प्रजा को आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु यदि बिना विचार विमर्श के दण्ड का प्रयोग करेगा तो राजा स्वमेंव पतन के गर्त में गिर जायेगा। दण्ड के आभाव में प्रजा कलुक्षित चित्त और मर्यादा सीमा नष्ट हो जाती है। दण्ड के यथोचित न होने पर प्रजा राजा तथा उसकी व्यवस्था के विरूद्ध कुपित हो सकती है। यह भी कहा गया है कि दण्ड बड़ा तेजोमय है जिसे मूर्ख और अधर्मी धारण नहीं कर सकता। इसलिए ऐसी दशा में वह दण्ड धर्म से रहित राजा व उसके परिवार का ही विनाश कर देता है। इस बात को भी स्पष्ट रूप में वर्णित किया गया है कि जो राजा न्याय पूर्वक दण्ड का प्रयोग नहीं कर सकता वह प्रजा पालक नहीं हो सकता।

दण्ड का प्रार्दुभाव राज्यसंस्था की उत्पत्ति के साथ हुआ है। मनुस्मृति के सप्तम अध्याय एवं महाभारत के शान्ति पर्व में बताया गया है कि मानव जाति की प्रारम्भिक स्थिति पावन, आचरण, दोषहीन, कर्म, सत्गुण और ऋतु की थी। उस समय न तो किसी राजा का राज्य था न ही दण्ड था, न ही दण्डी था और सभी के द्वारा धर्म पूर्वक एक दूसरे की रक्षा की जाती थी।

"न राज्यं न च राजासीत न दण्डों न च दाण्डिकः।"[12]

स्वयमेंव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।"

कुछ समय पश्चात् जब तामसी गुणों का प्रभाव बढ़ने लगा, मानव समाज अपनी प्राचीन सात्विक प्रवृत्ति से विमुख हो गया और मत्स्य न्याय ने घेर लिया, बलवान व्यक्ति निर्बलों का भक्षण करने लगे ऐसी अक्रामक स्थिति में राज्य तथा राजा की उत्पत्ति हुई और सभी को उचित मार्ग पर रखने के लिए दण्ड विध ान किया गया। दण्ड राज्य की शक्तियों का महत्वपूर्ण प्रतीक था, जो सभी प्रजाओं का शासक त्राता एवं सोये हुए को जगाने का एकमात्र साधन था। अतः हम देखते है कि तत्कालीन व्यवस्था में दण्ड को धर्म कहा गया है। इससे यह बात पूर्णयतः स्पष्ट हो जाती है कि दण्ड एकमात्र धर्म का साधक है ऐसा धर्म जिसमें अर्थ और काम भी समाहित है। अतः दण्ड तीनों वर्गों का साधक सिद्ध हुआ। सदाचार से धृष्टता को अलग करने के लिए दण्ड की आवश्यकता पड़ी। राज्य की शक्ति के रूप में दण्ड, न्याय क्षेत्र में प्रवाहित होने लगा। जिसका उददेश्य यह था कि समाज और धर्म के माप दण्डों और यथास्थिति को सुरक्षा प्रदान करे। वह यथास्थिति धर्म के नाम से जानी जाती थी। वर्ण, जाति, आश्रम, देश, काल, समूह, वर्ग, कुटुम्ब और व्यवसाय इत्यादि के आधार पर धर्म के विविध रूपों में अनेक प्रकार थे जिनका ज्ञान होना धर्मस्थ हेतु परम आवश्यक होता था। कोई भी राजा या न्यायालय का मुखिया संगठन का प्रधान होकर भी यदि उस दण्ड या नियम उल्लंघन हेतु लक्षित किया गया हो, विधी का प्रधान वह नही हो सकता था। भारत में विधि और दण्ड ऐसी सम्प्रभुता ब्रह्मकाल से लेकर मनुस्मृति और महाभारत कालीन युग के मध्य विकसित होती हुई दिखाई देती है। महाभारत जैसे ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है कि दण्ड का उद्देश्य अपराधियों के मन में भय उत्पन्न करना और उन्हे दण्डित करना था।

"राजदंड भयादेके पापाः पापं न कुर्वते।"[13]

प्राचीन भारत में अपराध करने पर अपराधी को जुर्माना, कारावास, देश से निष्कासित करना अंग–भंग एवं मृत्युदंड दिया जाता था। अधिकांश दण्ड हेतु जुर्माना ही दिया जाता था जिसकी मात्रा अपराध को देखते हुए तय की जाती थी। कारावास की सजा जिनको दी जाती थी उससे पूर्व उनको सार्वजनिक मार्ग को सही करने के लिए कहा जाता था। ऐसा करने का मुख्य कारण यह था कि इनकी सजा को देखकर दूसरों के मन में भय का प्रतिबिम्ब बनाना था। जिससे दूसरे अपराध करने से स्वयं को बचा सकें। कभी–कभी दूसरे देशों की भाँति प्राचीन भारत में भी अपराधी के अंगों को न्यायालय के आदेशानुसार काट दिया जाता था और एक समान भाव से दण्ड का विधान होने के कारण उच्चवर्गीय भी कभी–कभी

PIF-7.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-III, Issues-18, YEAR- Dec. -2020

देशों से निकाल दिये जाते थे। किसी का खून कर देने, राज्य द्रोह एवं डकैती तथा सतीत्व भंग करने जैसे घोर अपराध हेतु प्राण दण्ड का विधान था। दण्ड केवल जिसके द्वारा घोर अपराध किया गया हो उसी को दिया जाता था उससे सम्बन्धित रिश्तेदारों को दण्ड को विधान नही था।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 याज्ञवल्क्य, 6 74.
2 गौतम, 2 14.
3 गौतम, 2 18.
4 वशिष्ठ, 1, 74 75.
5 आपस्तम्ब, 7 4.
6 शुक्र नीति, 7 18.
7 मृच्छकटिकम्, 3–4.
8 मनुस्मृति, 6 12.
9 अर्थशास्त्र, 1 19.
10 शुक्र नीति (आचार्य शुक्राचार्य), 2 80.
11 याज्ञवल्क्य स्मृति, 14 2–4.
12 मनुस्मृति का सप्तम अध्याय।
13 महाभारत का शान्तिपर्व।

*****